प्रस्तावना

प्रेमचंद हिन्दी कथा साहित्य के गौरव हैं । प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य का केन्द्र उनके साहित्य में व्यक्त किसान संवेदनशीलता ही है । भारतीय किसान का दिल प्रेमचंद की रचनाओं में धड़कता है । प्रेमचंद से पहले और उनके बाद में भी (हिन्दी - उर्दू में) किसानों का ऐसा हिमायती साहित्यकार पैदा नहीं हुआ। जिसे हम 'भारतीय किसान' कहते हैं, वह कोई अमूर्त धारणा नहीं है । यहाँ 'भारतीय किसान' से तात्पर्य बीसवीं सदी के शुरू के 36 वर्षों के भारतीय किसान से है । इस किसान को — उसकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी समस्या को, उसके जीवनानुभवों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का काम हिन्दी-उर्दू साहित्य में सबसे पहले प्रेमचंद ने ही किया है । प्रेमचंद की इस विशिष्ट स्थिति को — उनकी समकालीन चेतना और मानवीय संवेदनशीलता को— तद्युगीन भारतीय किसान के संदर्भ में ही परखा जा सकता है ।

वास्तव में प्रेमचंद और भारतीय किसानों के संबंध की जिज्ञासा पारिभाषिक जिज्ञासा मात्र नहीं है, बल्कि इससे बड़ी और विस्तृत जिज्ञासा है । यह उस पुरानी और प्रासंगिक बहस का एक हिस्सा है जिसमें साहित्य और सामाजिक - राजनीतिक जीवन का संबंध क्या है ? और साहित्य में समाज की तथा समाज में साहित्य की भूमिका क्या होती है ? जैसे सवाल उठाये जाते हैं । इस पुरानी प्रचलित बहस को प्रेमचंद और भारतीय किसान के विशिष्ट संदर्भ में ही उठा रखा गया है । प्रस्तुत विषय में दो मुख्य जिज्ञासायें हैं — एक, प्रेमचंद (एक साहित्यकार के रूप में) और किसान (एक सामाजिक वर्ग के रूप में) का संबंध क्या है ? और दूसरा, प्रेमचंद की रचनाओं में व्यक्त किसान जीवन का स्वरूप क्या है ? इनमें पहली जिज्ञासा का संबंध बीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में किसानों की भूमिका और उस भूमिका के संदर्भ में तद्युगीन बुद्धि-

सोवियतों के चिंतन से है । दूसरी जिज्ञासा का संबंध उस भूमिका के प्रेमचंद द्वारा किये गये साहित्यिक सृजन से है, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों के साथ - साथ प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि, रचना-दृष्टि और कलात्मक सामर्थ्य की एक बड़ी भूमिका है ।

प्रेमचंद और भारतीय किसानों का संबंध सहज और सरल नहीं है। यह संबंध प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि मात्र का ही अनिवार्य परिणाम नहीं है, बल्कि इससे हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक वातावरण और वर्ग-संबंधों के नये स्वरूप की भी अभिव्यक्ति होती है । वास्तव में ब्रिटिश भारत में किसानों की सशस्त्र क्रांतिकारी संघर्ष की परंपरा रही है । किसानों ने आरंभ से ही अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करने के लिए सशस्त्र संघर्ष चलाये । इसीलिए उन्होंने 1857-58 के विद्रोह में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की । इन संघर्षों का उद्देश्य ब्रिटिशपूर्व राजाओं और कृषि-संबंधों को पुनःस्थापित करना था । उन्होंने ब्रिटिश भारत के अधिकारियों, जमींदारों और महाजनों की ज्यादती की, पुलिस और फौज का मुकाबला किया । ये किसान अभी तक संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर नहीं आये थे, बल्कि इनके संघर्षों में अपनी परेशानियों से उत्पन्न आक्रोश की अभिव्यक्ति होती थी । ब्रिटिश भारत में एक परंपरा इन किसानों की थी ।

दूसरी परंपरा उस बुद्धिजीवी वर्ग की थी, जिसने आगे चलकर इन किसानों को संगठित किया और राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई ।

'ब्रिटिश सिंह' की छत्रछाया में जिस अंग्रेजी पढ़े लिखे बुद्धिजीवी वर्ग का उद्भव और विकास हुआ — वह आरंभ से ही अंग्रेजों की न्यायप्रियता और प्रजापालकता का गहरा हामी था । उसे 'बर्बर मुस्लिम साम्राज्य' के बाद अंग्रेजों का शासन शांति का दूत दिखाई दिया । इस वर्ग ने भारत में अंग्रेजी राज्य को स्तुत्य माना और किसानों की संघर्षशील परंपरा को 'क्रूर' और 'बर्बर' कहकर पुकारा । यही एक ऐसा वर्ग था जिसने 1857 के विद्रोह का विरोध किया और अंग्रेजों का साथ दिया । पश्चिम के संपर्क में आते ही इसे अंग्रेजी

की सभ्यता और भारतीयों के 'जंगलीपन' में अटूट विश्वास हो गया । अतः इस वर्ग के एक तबके ने अंग्रेजी सभ्यता के अनुकरण को ही भारत की भावी उन्नति का आधार माना । इसी वर्ग ने भारत में आधुनिक राजनीतिक चेतना का प्रचार और प्रसार के आरंभिक प्रयास किये । इसी ने 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को संगठित किया । इसने ही अंग्रेजों के सामने भारतीय जनता की परेशानियों को रखा, फिर इन परेशानियों को दूर करने के लिए संघर्ष किये । अपनी माँगों को मनवाने के लिए इसने ही सबसे पहले संपूर्ण भारतीय जनता को संगठित करने का प्रयास किया ।

प्रेमचंद और भारतीय किसान का संबंध इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है कि इस बुद्धिजीवी वर्ग ने किसानों की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका को महत्त्व दिया । प्रेमचंद इन्हीं बुद्धिजीवियों में से एक थे। यह काम अकेले प्रेमचंद ने ही नहीं किया, बल्कि उस दौर के अनेक राजनीतिक नेता और साहित्यकारों की दृष्टि गाँवों की ओर गई और अपने विचारों को किसानों में भी प्रचारित करने के फैसले हुए । आरंभ में यह विचार दया भाव से आया ; जिसमें 'बेचारे' किसानों की भलाई के लिए 'शिक्षित जनों' को कुछ करने का आह्वान था । बाद में प्रेमचंद जैसे लोगों ने यह महसूस किया कि किसान ही भारतीय स्वाधीनता - आन्दोलन का आधार है । प्रेमचंद, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू ने लगभग एक ही समय किसानों की शक्ति को पहचाना । गांधी ने चम्पारन (1917 ई0) में, नेहरू ने प्रतापगढ़ और रायबरेली (1920-21 ई0) में किसानों के बीच काम किया । प्रेमचंद ने इसी बीच (मई 1918 ई0 से) 'प्रेमाश्रम' लिखना शुरू किया । राजनीति और साहित्य दोनों ही शिक्षित जन समुदाय की संकुचित सीमा से निकलकर गाँव की चौपाल में आये । राजनीतिक और साहित्यिक विषयों और समस्याओं का यह परिवर्तन भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना है । तिलक-गोखले के बाद गांधी-नेहरू और मैथिलीशरण गुप्त - देवकीनन्दन खत्री के बाद निराला-प्रेमचंद का यह आगमन भारत के

सांस्कृतिक आकाश में एक बड़े परिवर्तन की पूर्व सूचना है । इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद और भारतीय किसान का संबंध प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के घेरे से निकलकर राष्ट्रीय राजनीति के दायरे में आ जाता है । यह भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी संबंधों के परिवर्तन और नये स्वरूप को द्योतित करता है ।

इसलिए एक ओर तो हमें ब्रिटिश भारत में किसानों की स्थिति पर विचार करना होगा, और दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन की विकास रेखा को भी समझना होगा । इसी परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद का जीवन, उनकी जीवन- दृष्टि का विकास, उनकी साहित्यिक शुरुआत की आरंभिक समस्याओं और हिन्दी साहित्य की परंपरा को भी समझना होगा ।

साहित्य और समाज के संबंधों के विवेचन में मोटे तौर पर दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं — समाज में साहित्य की स्थिति और साहित्य में समाज की उपस्थिति । प्रस्तुत शोध-प्रबंध में मैंने इन दोनों पद्धतियों का उपयोग किया है, जिससे प्रेमचंद के साहित्य का समग्र अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके । प्रथम चार अध्यायों में तत्कालीन सामाजिक- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद के साहित्य के बदलते स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है । इसके लिए प्रेमचंद-साहित्य के विकास क्रम को तीन चरणों में बाँटकर रखा गया है —— प्रथम चरण (1900-1918), द्वितीय चरण (1919-1929) और तृतीय चरण (1930-1936 ई०) । इनमें भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता - आन्दोलन और किसानों की गतिविधियों के संदर्भ में प्रेमचंद के साहित्यका विवेचन किया गया है । यह वर्गीकरण एक तो प्रेमचंद की रचना-दृष्टि में आये हुए परिवर्तनों को

सूचित करता है और दूसरे, राष्ट्रीय जागरण में आने वाले निर्णायक मोड़ को भी रेखांकित करता है । इन दोनों को साथ-साथ रखकर ही अध्यायों का यह विभाजन किया गया है । तृतीय चरण को मैंने दो अध्यायों में समेटने का प्रयास किया है । इस बीच प्रेमचंद ने 'हंस' और 'जागरण' में समकालीन राजनीति और सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं । अतः तीसरे अध्याय में प्रेमचंद के इस चिंतन पर विचार किया गया है और चौथे अध्याय में इस चरण के सर्जनात्मक साहित्य पर विचार किया गया है । इस प्रक्रिया में मैंने उस युग की उन सामाजिक परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया है, जिनका प्रेमचंद के सर्जनात्मक साहित्य के स्वरूप-निर्माण पर प्रभाव पड़ा है । स्वतंत्र रूप से उस युग की ऐतिहासिक परिस्थितियों का विवेचन मैंने नहीं किया है । इसी तरह प्रेमचंद की जीवनी और उनके व्यक्तित्व के उन प्रसंगों को भी शोध-ग्रंथ में उपस्थित किया गया है, जिनका उनके सर्जनात्मक साहित्य से घनिष्ठ संबंध रहा है । स्थान-स्थान पर प्रेमचंद के जीवन की घटनाओं का कहीं भी उल्लेख किया गया है । रचनाओं को समझने के लिए ही इन 'बाहरी' उपकरणों का सहारा लिया गया है । इनका स्वतंत्र महत्त्व नहीं है ।

पाँचवें और छठे अध्याय में दूसरी पद्धति का उपयोग किया गया है । प्रेमचंद ने समकालीन समाज — विशेष रूप से भारतीय किसान जीवन को अपने साहित्य में किस रूप में उपस्थित किया है, उसका विश्लेषण है । प्रेमचंद द्वारा प्रस्तुत इस तस्वीर को जाँचने-परखने के लिए इतिहासकारों और समाज वैज्ञानिकों की धारणाओं को भी सामने रखा गया है । इसमें भी मेरा प्रयास यह रहा है कि प्रेमचंद द्वारा उपस्थित भारतीय किसान की तस्वीर उभर कर सामने आ सके ।

इन दोनों प्रक्रियाओं से प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि और रचना - दृष्टि का निर्माण हुआ है और इसी विशिष्ट दृष्टि से उन्होंने भारतीय किसान को

अपने साहित्य में उपस्थित किया है । सातवें अध्याय में प्रेमचंद की जीवन - दृष्टि का विश्लेषण है । इस अध्ययन में मैंने मुख्यतः प्रेमचंद के सर्जनात्मक साहित्य को ही अपने निष्कर्षों का आधार बनाया है । किन्तु कहीं-कहीं उनके चिंतन को भी सहायक रूप में उपस्थित किया गया है । अंत में, उपसंहार में मैंने प्रेमचंद के साहित्य में भारतीय किसान की संश्लिष्ट प्रतिमा का विवेचन किया है। इस संदर्भ में कुछ प्रचलित धारणाओं पर पुनर्विचार करने का प्रयास किया गया है ।

प्रेमचंद के साहित्य पर अनेक चिंतकों, आलोचकों और शोध-कर्त्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । 'सेवासदन' के प्रकाशन (1916 ई०) के बाद से ही प्रेमचंद के साहित्य पर गंभीर विचार-विमर्श शुरू हो गया था और समकालीनों में प्रेमचंद चर्चा के केन्द्र में आ गये थे । तब से आज तक प्रेमचंद साहित्य पर विचार - विमर्श जारी है । भारत में ही नहीं विदेशों में भी आलोचकों ने प्रेमचंद के साहित्य का मनन किया है । इन सभी प्रयासों से प्रेमचंद के साहित्य के प्रति कुछ धारणाएँ सर्वमान्य सी हो चली हैं । प्रेमचंद-साहित्य के इन अध्येताओं के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए भी मैंने शोध-ग्रंथ में उनसे बहस करने का प्रयास नहीं किया है । उन्होंने प्रेमचंद के साहित्य के बारे में जो सामान्य धारणाएँ बना रखी हैं, उन्हीं धारणाओं पर प्रसंगवश विचार किया गया है । प्रेमचंद साहित्य के वस्तुगत अध्ययन से उनके बारे में जो मेरी धारणाएँ बनी हैं, उन्हें ही मैंने मुख्य रूप से सामने रखने का प्रयास किया है। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए मैंने किसी आलोचक के मत का सहारा न लेकर स्वयं प्रेमचंद के साहित्य का ही सहारा लिया है । इसलिए प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में प्रेमचंद-साहित्य के पूर्ववर्ती अध्येताओं का खंडन-मंडन प्रायः कम किया गया है । प्रेमचंद साहित्य की वस्तुगत और वैधगम्य तस्वीर बनाने का प्रयास ही यहाँ अभीष्ट है ।

यह शोध-ग्रन्थ मूलतः आलोचनात्मक है । इसमें मैंने नये तथ्यों की खोज का प्रयास नहीं किया है, प्रसंगवश कुछ नये तथ्य अवश्य सामने आ गये

है ; लेकिन मेरी रुचि उपलब्ध तथ्यों के नये विश्लेषण की ओर भी रही है। प्रेमचंद साहित्य से संबंधित इन तथ्यों के लिए मैं अपने पूर्ववर्ती शोधकर्त्ताओं का ऋणी हूँ। प्रेमचंद के जीवन चरित और रचनाओं के प्रकाशन-काल जैसे तथ्यों के लिए मुख्यतः श्रीमती शिवरानी देवी, अमृतराय, मदनगोपाल, जैनेन्द्र कुमार और कमल किशोर गोयनका ही मेरे आधार रहे हैं। फिर भी, मुझे लगता है कि प्रेमचंद से संबंधित अनेक नये तथ्यों को अभी प्रकाशन में लाया जाना बाकी है और अगर वे सभी तथ्य उपलब्ध होते तो यह शोध-कार्य और ज्यादा पूर्ण होता।

यह मेरा परम सौभाग्य रहा है कि डा० नामवर सिंह के कुशल निर्देशन में मुझे शोध-कार्य करने का अवसर मिला। शोध-कार्य के दौरान मेरी ऐसी धारणा बनी है कि निर्देशक शोध की रचना-प्रक्रिया का बाहरी तत्त्व नहीं, बल्कि अंतरंग होता है। निर्देशक शोधकर्त्ता की चेतना का अंग बनकर एक तो भीतरी संसार का काम करता है और दूसरे, सही मार्ग का निर्देश करता है। डा० नामवर सिंह ने मुझे हमेशा 'उपदेश' के बदले 'निर्देश' ही दिये हैं और मेरी चेतना में निहित निर्देशक को शक्तिशाली बनाया है। संभवतः यही कारण है कि मेरे कार्य में उन्होंने बहुत ज्यादा फेरबदल नहीं किया और मतभेदों को बने रहने दिया है। यह शोध-कार्य उन्हीं के कुशल निर्देशन का फल है। अतः उन्हें धन्यवाद देना तो बेतुकी बात ही होगी।

इस अवसर पर मैं अपने गुरुवर डा० मैनेजर पाण्डेय का ऋण भी स्वीकार करता हूँ जिन्होंने शोध-कार्य की मूल प्रेरणा दी और विषय चयन में मदद की।

शोध-कार्य के लिए मैं उन पुस्तकालयों का भी आभारी हूँ, जहाँ से

मैंने पुस्तकें, पत्रिकाएँ आदि लेकर पढ़ी हैं। विशेष रूप से मैं काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी और मारवाड़ी पुस्तकालय, चाँदनी चौक, दिल्ली का आभारी हूँ जहाँ से मुझे उस युग की पत्र-पत्रिकाएँ प्राप्त हुई हैं। मैं उन सभी मित्रों का भी आभारी हूँ, जिनसे मैंने इस विषय पर विचार-विमर्श किया है और कई सार्थक सुझाव पाए हैं। मैं श्री हरप्रकाश गौड़ और बुद्धाराम सुडसुड़िया को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने शोध-कार्य में सहायता की है।

— रामबक्ष जाट

हिंदी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक

बसंत पंचमी
22 जनवरी 1980